

श्री
धर्म नीति दर्पण

भाषानुवाद समेत

परिष्कृत जयदत्त शर्मा
संकलित



मुन्योसदानन्द सनवाल द्वारा
अमनाड़ा डिस्ट्रिक्ट लव यन्त्रालय में मुद्रित हुआ

सम्बत् १९५४ सन् १९६८ ईस्वी

मूल १)

प्रथमवार १०००

All rights reserved.

भूमिका

मनुष्य का अपने मुख्य कर्तव्य कर्म को जानना तथा बालकों को आरम्भ से ही धर्म की ओर पृष्ठ कराना और सदाचरणमें अनुशासित करना, व निन्दित कर्मों के बुरे परिणाम दर्शाकर उनका चित्त उन से फेरना, प्राचीन समय से हो सभ्य जातियों के मध्य एक अति आवश्यक बात मानी गई है, क्योंकि जब बालकों के चित्त में धर्म के अंकुर आरम्भ से ही जम जाते हैं तो वे सयाने होकर भी सन्मार्ग को नहीं छोड़ते और समाज तथा सामयिक राज्य को अपने आचरण से हानि नहीं पहुँचाते अतः हमारी उदार और दूर दर्शी गवर्नमेंट ने भी विद्यालयों में आर्य बालकों को उनके धर्म नीति में शिक्षा दिये जाने की अनुमति दे दी है सन्देह नहीं है कि ऐसी शिक्षा से हमारे युवकों का मानसिक तथा सामाजिक उपकार होगा इस समय आर्य बालकों के पढ़ने के लिये धर्म नीति की पुस्तकें बहुत कम हैं इस अभाव को देखकर इस छिटी सो पुस्तक को संकलित करने का साहस मुझे भी हुआ है अतः मैंने पुराण, इतिहास, स्मृति और नीति यों के ग्रन्थों से ऐसे-सदुपदेशों का संग्रह किया है जो स्वाभाविक सहर्म के नियमों के अनुकूल तथा सर्व जन सम्मत और सर्व साधारण के अनुसरण के उपयोग्य हैं, आशा है, कि हिन्दू समाज के सभ्य जन इस छिटी सो पुस्तक को पठन पाठन को प्रणाली में स्थान देंगे, और जो कुछ चूटि इस में रह गई है उस से मुझे सूचित करने से शिरवाधित करेंगे जिस से अब की बार के रूप में वह चूटि न रहने पावे, इस छिटी सो पुस्तक के संग्रह करने में मुझे निम्नलिखित महाशयों से बड़ी सहायता मिली है जिस का मैं धन्यवाद पूर्वक यहाँ पर स्वीकार करता हूँ अर्थात् पण्डित लीलानन्द ज्योतिर्विद, पण्डित मधुरादत्त ज्योतिर्विद बी. ए. पण्डित नारायण दत्त ज्योतिर्विद स्व. हि. प्रो. इन्. कैं. और पण्डित देवकीनन्दन ज्योतिर्विद, जिन्होंने संग्रह के अनुवाद तथा संस्करण के शुद्ध करने में मुझे सहायता दी है।

तारीख २७ जनवरी १८८८

} जयदत्त ज्योतिर्विद
} धीनाखान, अल्मोड़ा

प्रथमा ऽध्यायः ।

(विद्या)

विद्याधनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्वनम् ।

दानेन वर्द्धतेनित्यं नभाराय न नीयते ॥१॥ (शु०)

विद्या सब धनों से श्रेष्ठ है और इतर धनोंको मूल विद्या है देने से सदा बढ़ती है न भार होता है- न कोई उसे लीजासकता है ।

रूपयौवन संपन्ना विशाल कुलसम्भवाः ।

विद्याहीनान् शोभन्ते निर्गन्धा इवकिं शुक्लाः ॥२॥ (हि०)

सुन्दरता और तरुणतासे युक्त अष्टकुलमें जन्म पायेहुए विद्याहीन पुरुष गन्धहीन पलास के फूलों के समान शोभा नहीं पाते ।

हाहा । रूपभयो यौवन भयो कुलह मे अनुकूल
विनविद्या के जानिये गन्धहीन ल्यों फूल ।

विद्या विलास मनसो धृतशील शिखाः

सत्यव्रता रक्षितमानमलापहाराः ।

संसार दुःख दलनेन सुभूषिता-ये

धन्यानरा विहितकर्मपरीप काराः ॥३॥ (वि०)

जिनका मन विद्याके विलासमें रहता है और जो सुन्दर शील और शिखा से युक्त हैं जो सत्यका पालन करते हैं और जो अभिमान और अपवित्रतासे रहित हैं और जो संसारो जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित हैं और जो वेदानुसार कर्म करने से दूसरों का उपकार करते हैं विजय धन्य हैं ।

विद्वान् प्रशस्यते सर्वे विद्वान् सर्वत्र गौरवम् ।

विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते ॥४॥ (चा०)

विद्वान् ही संसार में प्रशंसा पाता है विद्वान् ही सब जगह श्रेष्ठता की प्राप्त होता है विद्या ही से सब वस्तुओं की पाता है विद्या ही सब जगह पूजी जाती है ।

विद्वाने वहि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।

नहिवन्ध्या विज्ञानाति शुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥५॥

विद्वान् ही विद्वानों के परिश्रम की जानता है मूर्ख क्या जाने जी से कि
वांभ स्त्रीपुत्र प्रसव के क्लेश को नहीं जानती ।

ज्ञातिभिवंटनेनैव चौरणापि ननीयते ।

दाने नैव क्षयंयाति विद्यारत्नं महाधनम् ॥६॥

कुटुम्ब के बीच में बांटने से भी क्षय को नहीं प्राप्त होती है और न चौर
इस की लीसकता है और दान करनेसे भी कम नहीं होता बरन बढ़ती है
इस कारण विद्यारूप रत्न अष्ट धन है ।

देहा । चौर न चोरो करसके नहीं नृपतिके साथ

बन्धु भाग नहीं लीसके विद्याधन निर्वाध ।

विद्याददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद्धन माप्नोति धनार्द्धमं ततः सुखम् ॥७॥ (भ०)

विद्या विनय की देती है विनय से मनुष्य पात्र होजाता है पात्र होने से
धन लाभ करता है धनसे धर्म और धर्म से सुख मिलता है ।

देहा । सुखचाहे विद्यापढ़े विद्या है सुखहेतु ।

भवसागर के तरन की विद्या है दृढ़हेतु ।

विद्यानाम नरस्य रूपसधिकं प्रच्छन्नं गुप्तं धनम्

विद्याभोगकरो यशः सुखकरी विद्यागुरूणां गुरुः ।

विद्यावन्धुजना विद्देश गमने विद्यापरं दैवतम्

विद्याराज सुपूजिता नहिधनं विद्याविहीनः पशुः ॥८॥ (भ०)

विद्या ही मनुष्य का अधिक रूप और छिपाहुआ धन है विद्याही भोग
यश और सुख की देने वाली है गुरुओं को गुरु है परदेश में विद्या ही मित्र
है और विद्या ही परम देवता है और विद्या ही राजा लोगों में पूज्य है न कि
धन, इसलिये, विद्या हीन नर पशु हैं ।

देहा । विद्याउत्तम द्रव्य है विद्याधनद नि केत
परम मित्र विद्याभनी विद्या करत सुचेत
भाग हीन नर को परम आश्रय विद्याज्ञान
विद्या से संसार में गुरुपद लहै सुजान

यथायथाहि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथातथा विज्ञानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥६॥

जैसे जैसे मनुष्य शास्त्रों की यथावत् जानता जाता है वैसे वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता है और उसी में उसकी रुचि भी बढ़ती जाती है ।

सासृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरुवान् विधेच्छितैः ।

लाखनाऽश्रयिषोऽदोषास्ताडना श्रयिषोऽगुणाः ॥१०॥

जो माता पिता और गुरु अपने भक्तान और शिष्यों को ताडन करते हैं वे उन को अपने हाथ से अश्रुत पिलाते हैं और जो लाड़ करते हैं वे उन को विष पिला के नष्ट भृष्ट कर देते हैं ।

सर्वेषामेवदानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

वार्यन्नगीमहीवास स्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥११॥

संसार में जितने दान हैं अर्थात् अन्न, जल, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, और छतादि इन सब दानों से वेद विद्या का दान अति श्रेष्ठ है इसलिये तन मन धन से जहाँतक होसके अन्य दानों की अपेक्षा विद्या दान ही अधिक करना उचित है ।

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥१२॥

विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं होसकती क्यों कि राजा अपने ही राज्य में मान और सत्कार पाता है परन्तु विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा पाता है ।

मातांशुः पितावैरो येनवास्तान पाठितः ।

(४)

नशोभते सभामध्ये हंसमध्ये वकीयथा ॥१३॥ (चा०)

वे माता पिता अपने बालकों के पूर्ण बरों हैं जो उन को विद्या प्राप्ति नहो' कराते हैं विद्वानों की सभा में वे शोभित नहो' होते हैं जैसे हमों के बीच में बगुला ।

मातृपितृ कृताभ्यासी शुचितामेति बालकः ।

नगर्भच्युतिमात्रेण पुद्गोभवति पण्डितः ॥१४॥ (चा०)

बालक माता पिता के विद्याभ्यास कराने से गुणवान होता है गर्भ से निकलनेमात्र कोई पण्डित नहो' होसकता है ।

किंकुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम् ।

दुष्कूलं चापिविदुषो देवैरपि सुपूज्यते ॥१५॥

जो पुरुष विद्यासे हीन हैं उनका उत्तम कुल में लक्ष्य भी निष्फल है और विद्वान् नोच कुलवाला भी देवतां कर के पूज्य होता है ।

कामधेनु गुणाविद्या ह्यकाले फलदायिनी ।

प्रवा से मातृ सदृशी विद्याशुभ धनंस्मृतम् ॥१६॥ (चा०)

विद्या में कामधेनु के समान गुण हैं अकालमें भी फलकी देनेवाली है परदेश में माताके तुल्य हितकारिणी है इसलिये विद्याकी शुभधन कहते हैं ।

द्वितीयो ऽध्यायः

(धर्म)

प्रभवन् पृच्छतेयोहि सन्मानयति वापुनः ।

नूनंमन्ये स धर्मात्मा पण्डिताख्यां सगच्छति ॥१॥ (शु०)

अपने आप किसी बात में निपुण होकर भी जो दूसरे से सम्मत हो वा उसका सन्मान करे तो वह धर्मात्मा पण्डित कहलाता है ।

नसीदन्नपिधर्मैश्च मनोऽधर्मैर्निवेशयेत् ।

अधार्मिकाणां पापानां माशुपश्यन्वि पर्ययम् ॥२॥ (म०)

धर्म करते करते यदि कष्ट को भी प्राप्त होजाय तब भी मनुष्य को उचित है कि अधर्म में मन न लगावे देखना चाहिये कि पाप कर्मों का परिणाम शोच ही बुरा होता है।

धर्माएव हतोहन्ति धर्मैरक्षतिरक्षितः ।

तस्माद्धर्मो नहन्तव्यो मानोधर्मो हतोऽवधीत् ॥३॥ म०

धर्मका नाशकरना क्या है मानो अपने को मारना है और धर्म की रक्षा कर ॥ मानो अपनी रक्षा करना है इस कारण धर्म का नाश नहीं करना चाहिए ऐसा न हो कि हमधर्म को नाश कर और वह हमारा भी नाशकरे ।

मंगलाचार युक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।

जपतां जुह्वतां चैव विनिपातान विद्वते ॥४॥ म०

जो उत्तम आचार युक्त हैं और नित्य शुद्ध हैं और जप और होम में जो तत्पर हैं उन को देव व मानुष उपद्रव नहीं होते हैं ।

वेदमेवा श्यसेन्नित्यं यथाकालं मतन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परंधर्मं सुपधर्मोऽन्यउच्यते ॥५॥ म०

नित्य कर्म के समय आलस्य छोड़कर शौंकार युक्त गायत्री आदि वेदकाही सदा अभ्यासकरे क्यों कि मनु आदि ने वेद का अभ्यास ही ब्राह्मण का परमधर्म कहा है और वेदाभ्यास से अन्य उपधर्म कहलाता है ।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु महारिषु ।

संयमे यत्न मातिष्ठे द्विहान् यन्तेव वाजिनाम् ॥६॥

जैसे सारथी से डो के बश में रखता है वैसे जो विद्वान्को मन और आत्मा को खींचने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये ॥६॥

(६)

कायात्मता न प्रशन्ता नचैवेहास्य कामता ।

काव्योहि वेदाधिगमः कर्म योगश्च वैदिकः ॥७॥ म०

इस संसार में अत्यन्त अभिलाषा और अत्यंत निष्कामता किमो के लिये भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि जो कामना न करे तो वेदां का ज्ञान और बंट विहित उत्तम कर्म किसी से भी न होसके ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दाषमृच्छत्य संगयम् ।

सन्नियम्यतु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥८॥ म०

जोवात्सा इन्द्रियों के बश में होके निश्चय बड़े बड़े दाषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने बश करता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है ।

वेदादितं स्वर्गं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।

तद्विकुर्वन्मथाशक्तिं प्राप्नोति परमं गतिम् ॥९॥ म०

वेद में कहे हुये अपने वर्णायम के उचित कर्म को नित्य आलस्य छोड़कर करे क्योंकि अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस कर्म को करता हुआ मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है ।

वेदाभ्यासेन सततं शौचिन तपसैवच ।

अद्रोहेणच भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१०॥ म०

सदा वेद के अभ्यास, शौच (मन देह बाणी करके शुद्ध रहना), और तप (शीत जषा भूख व्यास हर्ष शोक को सह लेना), और भूतों के अद्रोह से (प्राणिसात्र का द्रोह भाव छोड़ने से) पूर्व जन्म का स्मरण मनुष्य को होजाता है ।

वर्जयेत् मधुमांसञ्च गन्धं मात्स्यं रसांस्त्रियः ।

शुक्तानियानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥११॥ म०

ब्रह्मचारी सुरा मांस गन्ध मात्सा रसादि वस्तु स्त्रो का मंग सबप्रकार की मोठीचोर्जे का पीछे खटो होजाती है त्यागदे और किमो प्राणी का हिंसा न करे ।

यो ऽ नधीत्य द्विजा वंद मन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

सजीवन्नेव शूद्रत्व माशुगच्छति सान्वयः ॥१२॥ स०

जो वेद को न पढ़के और प्रकार के परिश्रम किया करता है वह अपने वंश सहित इसी जन्म में शीघ्र ही शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है ।

अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मं ज्ञाने विधीयते ।

धर्मं जिज्ञा समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥

जो पुरुष सुवर्णादि रत्न और स्त्री सेवनादि में लित नहीं हैं उन्हों को धर्म और ज्ञान प्राप्त होते हैं जो धर्म के जानने को इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक ठीक नहीं होता ।

सत्ये रतानां सततं दांतानां मूर्द्धरेतसाम् ।

ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वं पापा न्युपासितम् ॥१४॥ (वि०)

जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त हैं जितेन्द्रिय हैं और जिनका बोध अथः स्थूलित कभी नहीं है राजन् ऐसे पुरुषोंका ब्रह्मचर्य सवपापों का नाश करता है ।

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्य संशयम् ।

संनियम्यतु तान्येव ततः सिद्धिनियच्छति ॥१५॥ (म०)

मनुष्य केवल इन्द्रियों के संग से दोष अर्थात् पाप को प्राप्त होता है और उनके ही शोकने से सिद्धि लाभ करता है ।

यथाशुद्धोऽफलः स्त्रीषु यथागौर्गविचाफला ।

यथाचाक्षुःफलं दानं तथाविप्रोऽन्तर्चाऽफलः ॥१६॥ (शु०)

जैसे नष्ट मकं पुरुष स्त्री के लिये निष्फल है जैसे एकगाय दूसरीगाय के लिये निष्फल है जैसे मूर्ख का दान देना निष्फल है वैसे ही वेदसे होन ब्राह्मण निष्फल है ।

नतिष्ठति तुयः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिसाम् ।

सशूद्रवद्विद्विचार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः ॥१७॥ स०

जो प्रातः काल की संध्या को नहीं उपासता है और सायंकाल की भी

(८)

नहीं उपासता है वह दिव्य सम्पूर्ण कर्मों से बाहर करने के योग्य है ।

कामो लोभस्तथा क्रोधा दंभश्चत्वार इत्यमौ ।

महाद्वाराणि ऽवीचीनां तस्मादेतांस्तु वर्जयेत् ॥२८॥ (ग०)

काम क्रोध लोभ दंभ ये नरक के चार महाद्वार हैं इसलिए इन को त्यागना चाहिए ।

वर्धयन्नह धन्माद्यौ सैवितौ सद्भिरादरात् ।

निगृहीतेन्द्रियग्रामः कुर्वीत गुणसेवनम् ॥२९॥ (शु०)

यह से इन्द्रिय ग्रहों के नियंत्रण पूर्वक रुज्जनों से सेवित अर्थ धर्म को बढ़ाता हुआ गुरु की सेवा को करे ।

संमादृत्राह्वयो नित्य मुद्दिजेत विषादिव ।

अमृतस्त्रेवचाकाञ्चे द्दवजानस्य सर्वदा ॥३०॥ म०

ब्राह्मण सम्मान से विष के समान प्रति दिन डरे और अपमान को अमृत के समान सदा इच्छा करे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे ।

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्मात्मविबुधः ।

प्राप्येहलौकिकं संमानं सुगतिं प्रेत्यगच्छति ॥३१॥

जो सदान्वार शीलयुक्त सदासन्तुष्ट, आत्मज्ञानी और पण्डित है वही इस लौकिक से सम्मान पाता है तथा मरनेपर भी उत्तम गति को प्राप्त होता है ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौच मिन्द्रिय नियमः

धौर्विद्या सत्यमक्रोधा दशकं धर्म लक्षणम् ॥३२॥ (म०)

धर्म के दस लक्षण कहे हैं १ धृति (अर्थात् धारणशक्ति) २ क्षमा (अर्थात् किसी से अपकार पाकर उसका अपकार न करना और दुःख के बदले क्षमाई करना) ३ दम (अर्थात् विकार करने वाला विषय पाकर मन से विकार न होने देना) ४ शौच का त्याग ५ पवित्रता ६ विषयों से इन्द्रियों का रोकना ७ अशुभ आदि का ज्ञान ८ आत्म ज्ञान ९ सत्य १० क्रोध का हित रहने भी क्रोध न करना ।

न हायनैर्नपलितैर्नवित्तेन न वन्सुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः सनीमहान् ॥२३॥ म०

वर्ष और केश का पकना द्रव्य और सम्बन्ध इन सभी से मनुष्य बड़ा नहीं होता ऋषि लोगों ने यह नियम कर दिया है कि हम सबमें बड़ा बड़ो है जो साङ्गवेदां का जाननेवाला है ।

एकः शयौत सर्वत्र नरेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।

कामाद्धिस्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥२४॥ म०

ब्रह्मचारी सब जगह अकेला सीया कर कदाचित् भी वीर्य को न गिरावे क्योंकि इच्छा से वीर्य को गिराता हुआ अपने व्रत को नष्ट कर डालता है ।

तृतीयोऽध्यायः

आचार

रज्यते सत्फलं स्वान्तं दुष्फले न हि कस्यचित् ।

सदसद् बोधकान्येव दृष्ट्वा शास्त्राणि चाचरेत् ॥२॥ शु०

अच्छेफल की प्राप्ति से सब का मन प्रसन्न होता है दुष्फल की प्राप्ति से किसीका भी मन प्रसन्न नहीं होता इस से सत् असत् के बोध कराने वाले शास्त्रों का अवलोकन करके व्यवहार करने ।

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धो पसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशोबलम् ॥२॥ (चा०)

नमस्कारभाव वाले और नित्य बृद्ध जनों की सेवा करनेवाले मनुष्य को ये चारचौकै अर्थात् आयु विद्या यश और बल बढ़ती जाती हैं ।

शीलप्रधानस्युरुषे तद्दयस्येह प्रणश्यति ।

नतस्य जीविते नार्थी न धनेन न वन्सुभिः ॥३॥ (उ०)

चरित्र ही पुरुष का प्रधान गुण है जिसका चरित्र इसलोक में नष्ट होगया उसका जीवन धन और मित्र सबही ह्रया है ।

यद्यदा चरतिश्रेष्ठ स्तुतदेवे तरोजनः ।

सयत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥४॥ गी०

श्रेष्ठ जन जो जो आचरण करते हैं इतर अज्ञानो जन भी उसी आचरण को करते हैं जिम बात को श्रेष्ठ पुरुष प्रमाण ठहराते हैं इतर जन भी उसी के अनुसार चलते हैं ।

अनारोग्य सनायुष्य मस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५॥ म०

अतिभोजन करने से रोग बढ़ता है आयु कम होती है स्वर्ग प्राप्ति नहीं हो सकती पवित्र कर्मों के करने में बाधा पड़ती है और जगत में निन्दा होता है इस से मनुष्य को चाहिए के अति भोजन न किया करे ।

दाहा भोजन सोइ सराहिये लोभरोर सुखदाइ ।

दुखदाई वह ज्ञात है जो मिति से अधिकदाइ ।

नजाति कारणं तात गुणाः कल्याण कारणम् ।

व्रतस्यमपि चाण्डालं तंदेवा ब्राह्मणं विदुः ॥६॥

हे तात हेयुधिष्ठिर जाति कल्याण का हेतु नहीं है किंतु गुण ही कल्याण कारक है यदि चाण्डाल भी इन्द्रियों के सम्यकरूपो व्रत में स्थित हो तिसको भी देवता ब्राह्मण जानते हैं ।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलंपिवेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥७॥ म०

मलीभाति देखकर पैर रखना चाहिए वस्त्रसे छानकर जल को पीना चाहिए सत्य से पवित्र करके वचन बोलना चाहिए और शुद्ध मन से आचरण करना चाहिए ।

नजाति नकुलं राजन् नस्वाध्यायः श्रुतज्ञच ।

कारणानि हिजत्वस्य व्रतमेव हि कारणम् ॥८॥

हे राजन् जाति कुल वेदाध्ययन शास्त्रका श्रवण यह सब हिजत्व का

कारण नहीं है किंतु इन्द्रियों का संमय रूपी व्रतही द्विजल का कारण है ।

अद्भिर्गात्राणि शुद्धान्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥६॥

जल से देह शुद्ध होता है मन सत्याचरण से, जीवात्मा विद्या और तप से, और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होता है ।

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदित शायिता ।

प्रगे निशा माशुतथा येचोच्छ्रिष्टाः स्वपन्तिवै ॥१०॥

दिन को।।नोदुल्लेना और सूर्योदय होने के उपरान्त सोते रहना आयु को घट्ट करता है प्रातः काल में तथा रात्रि को शोभन सो जाना और अशुचि हाँके सोना ये सब निषिद्ध हैं ।

चतुर्वेदापि दुर्व्रतः शूद्रादल्पतरः स्मृतः ।

तस्माद्द्विद्वि महाराज व्रतं ब्राह्मण लक्षणम् ॥११॥

जा ब्राह्मण चारों वेदों को पढ़ाओ हो परन्तु जा छोटेमार्ग में प्रवृत्त है वह शूद्रसे भी अधम है इसकारण है राजन् व्रतही ब्राह्मण का लक्षण है । रजसाभि भ्रुतानारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।

प्रज्ञातेजा वलञ्चक्षु रायुश्चैव प्रहोयते ॥१२॥ (म०)

जा मनुष्य रजस्वला नारी गमन करता है उस की बुद्धि तेज चक्षु और परमायु का नाम होता है ।

नाप्सुमूर्ध्वं पुरीषं वा छौवनं वा समुत्सृजेत् ।

अमेध्य लिप्त मन्थद्वा लोहितं वा विषाणिवं ॥१३॥ (म०)

जल के भीतर मल मूत्र न करें न धूँके अथवा वस्त्र को जिस में विष्ठा वा मूत्र लगा हो जल के भीतर न धोवें और लोह या किसी प्रकार का विष न डालें ॥

आचार हीनं नपुनंतिवेदा यद्यत्पधीता सहषड् भिरङ्गैः ।

छन्दांस्त्रिनं सृत्यकाले त्यजन्ति नीडंशकुन्ता इवजात पक्षाः ॥१४॥

यदि चारों वेद छः अंगों के साथ भी पढ़े जायें तो भी वे आचाररहित की पवित्र नहीं कर सकते वेद सृत्यकाल में उसकी त्याग देते हैं जैसे पक्षी का बच्चा पर निकलने पर अपने घोसने को छोड़ देता है इमनिमित्त विद्वानको भी किसी काल में आचार को त्यागना नहीं उचित है ।

आचारात्लभते चायु राचारात्लभते श्रियम् ।

आचारात्लभते कौर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेहच ॥१५॥ (अ०)

भले आचार से मनुष्य को आयु बढ़ती है धन प्राप्ति होती है और आचारही से इस लोक में तथा मरनेपर यश बढ़ता है ।

श्रेयान्यत्कुरुते कर्म तत्करोत्य खिलोजनः ।

मनुतेयत्प्रमाणंस स्तदेवा नुसरत्यसौ ॥१६॥ ग० गी०

जो कर्म महान् पुरुष करते हैं वही कर्म इतरजन भी करते हैं वे जिस की प्रमाणिक समझते हैं और भी उसी को मानते हैं ।

सत्यधर्म्मार्थ्यं वृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।

शिष्याञ्च शिष्याहर्म्मणं वाग्वाह्मदरसंयतः ॥१७॥ (म०)

भले लोगों के आचार, सत्यधर्म तथा पवित्रता इन सब में सर्वकाल पृथक् रहै भार्या पुत्र दास छात्र इन सब की धर्म का कारना - सिद्धा वै वाणि वाहु उदर इनका संयम करे वाणि का संयम सत्य भाषण से होता है वाहु के बल से किसी की पीड़ा नदेवै तब वाहु का संयम होता है जो कुक्क धाड़ा सा मिलजाय उसी के भोजन से संतुष्ट रहने से उदर का संयम होता है ।

वनेऽपिदोषाः प्रभवन्ति रागिणां

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रिय निग्रहस्तपः ।

अकुत्सिते कर्म्मणियः प्रवर्त्तते

निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनम् ॥१८॥ (शा०)

विषयानुरागो पुरुषों को वनमें भी टोप घेरलेते हैं घरपर पांचों इन्द्रियों का समय ही तप है जो निन्दित कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता ऐसे विषयानुराग रहित पुरुष के लिये घरही तपोवन है ।

चतुर्थी ऽध्यायः

उद्यम

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।

कर्माण्या रभंभागांहि पुरुषंश्रीर्निषेवते ॥१॥ (म०)

काम करते करते यदि थक जाय तौभो कामों का आरम्भ करता ही रहे क्योंकि काम के आरम्भकर्ने वाले की सेवा लक्ष्मी करती है ।

दाहा उद्यम किये अनेक विधि सधेन जवहुं काम

दैव प्रवल तंव कहत हैं जे पण्डित मतिधाम ।

उद्योगिनं पुरुष सिंह सुपैतिलक्ष्मी ।

दैवेन देय मितिकापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरुपौरुष मात्मशक्ता ।

यत्नेकृते यदिनसिध्यति कोऽत्रदोषः ॥२॥ हि०

उद्यमी मनुष्य के पास धन अपने आप जाता है भाग्य से मिलेगा ऐसी बात उद्योगहीन पुरुष कहते हैं भाग्यका भरोसा छोडकर अपने सामर्थ्य से पुरुषार्थ करना चाहिये यदि यत्र करके भो काम सिद्ध न होवे तो उस में क्या दोष है ।

दाहा अमही सो सधमिलत है

विन अम मिलेन काहि ।

सीधी अंगुलो चीजम्यो

कोहुं निकरै नाहि ।

नस्वल्प मप्यध्य वसायभीराः ।
 करोतिविज्ञान विधिगुं गंहि ।
 अंधस्य किं हस्त तलस्थितोऽपि ।
 प्रकाश यत्यर्थं मिहप्रदीपः ॥३॥ (भ०)

उद्यम से डरनेवाले को विज्ञान विधि कुछभी गुणदायक नहीं होता जैसे इसलोक में अधे को हथेली में रत्नाहुवा दीपक भो पदार्थ को नहीं दिखता ।

उद्यमेनहि सिद्ध्यन्ति कार्याणिान मनोरथैः ।

नहिस्तुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखेऽष्टगाः ॥४॥ चा०

उद्यमसे ही प्रत्येक कार्यसिद्धिहोते है केवल मनोरथ से नहीं जैसे सीतेहुए सिंह के मुख में अग अपने आप नहीं प्रवेश करते है ।

दाहा उद्यमघर लक्ष्मीवसे

च्योपंखेमें पौन ।

चली फिर तो कुछमिले

वेठे दाता कौन ।

पूर्वजन्म कृतकर्म तद्देव मितिकथ्यते ।

तस्मात्पुरुष कारिण यत्नं कुर्यादतद्रितः ॥५॥

पहिले जन्मका कियाहुआ कर्म प्रारब्ध कहलाता है इसहेतु आलस्य रहित हो कर्म करने में यत्न करतारहे ।

दाहा अमकीहे सुख मिलत है विनउपाय-नही भाग

दैव हैव करत आजसो भागत है दुःखशोक ।

निपानमिव मण्डूकाः सरःपूर्णं मिवाङ्गनाः ।

सीद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वं संपदः ॥६॥ हि०

जैसे कुंड में मेढक और बड़े तालाव में जैसेपत्ती आते है वैसे ही उद्योगी मनुष्य के पास सारी सम्पतियों अपने आप चली आती है ।

दाहा अमकीहे धन होतहै धनही सुखकी भूल ।

व्यवसाई प्ररु चतुर-नेर-उद्योग को मत भूल ।

एकेनापिहि शूरेण पादान्नान्तं सहौतलम् ।

त्रियति भास्करेश्वेन स्फारस्फुरित तेजसा ॥७॥ नि०

एकही पराक्रमी, पुरुष अपने प्रबल पराक्रम से सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने बग में कर, मक्षता है जैसे एक सूर्य समस्त ब्रगत को प्रकाशमान करता है ।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्यो महान् रिपुः ।

नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसौदति ॥८॥ नि०

आलस्य मनुष्य के देह में बड़ा शत्रु है, उद्यम की समान दुसरा कोई मित्र नहीं जिम के करने से मनुष्य कभी दुःखित नहीं होता ।

दादा आलस बैरी बसत तन

सब सुखकी हरिलत

तो हो उद्यम बंधुओं

किये सकल सुखदेत ।

नहि दैवेन सिध्यन्ति वाय्व्यास्थेनैव सत्तमः ।

नचापि कर्मणो वैन द्वाभ्यांसिद्धिस्तु योगतः ॥९॥

एक संग देव से वाएक संग पौरुष से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता इन दोनों के एकत्र होनेसे ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

आवद्धा भालुषाः सर्वे निवद्धाः कर्मणोर्दयाः ।

दैवे पुरुष कारेच परन्ताभ्यां न विद्यति ॥१०॥

मनुष्य देव और पौरुष इन दोनों कर्मों से बंधे हुए हैं देव और पौरुष के सिवाय और कुछ भी बलवान नहीं है ।

पञ्चमोऽध्यायः

सज्जनता

साधाः प्रकीपि तस्यापि मनीनायाति विद्वियाम् ।

नहि तापयितुं शक्यं सागरान्कःसृष्टशोक्तया ॥१॥ (हि०)

साधु मनुष्य के मन को क्रोध दिलानसे भी उस में विकार नहीं उत्पन्न होता है जैसा मसुद्र का पानी फ़न की आग से गरम नहीं होता ।

धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञउत्सृजेत् ।

सन्निमित्ते वरंत्यागो विनाशे नियते सति ॥२॥ (हि०)

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि धन और प्राणका भी औरों के लिये त्याग करे क्योंकि धन इत्यादि का विनाश तो नियत होना है इसलिये सत्कार्य में त्याग करना ही उत्तम है ।

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवोऽनित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।

त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्वनित्यं सन्तुष्यत्वं तापपरोहिन्नाभः ॥३॥ वि०

धर्मही नित्य है सुख दुःख वे अनित्य हैं जोव अनित्य है जीवका कारण अविद्या यहभी अनित्य है इस से इस्को छोड़ना चाहिए और जिनका कभी नाश नहीं ऐसी जो नित्य वस्तु परमेस्वर है उस में निष्ठा रख के संताप पाना उचित है सब लामों में संताप ही बड़ा लाभ है ।

यदाचरणं मालोक्य तुष्यन्ति साधुवीजनाः ।

तत्पुण्यं मतिं विज्ञेयं तत्कर्तव्यं सदाबुधैः ॥४॥

जिम आचरण को देखकर साधुजन प्रसन्न होते हैं उस को पुण्य कहते हैं बुद्धिमान जनों को ऐसा कर्म करना चाहिए ।

स्मरन्ति सुकृतानेव नवैराणि कृतान्यपि ।

सन्तः प्रत्यभि जानन्ती लब्धा प्रत्ययमात्मनः ॥५॥ (सभा०)

संज्ञान अपने निज अनुभव द्वारा परार्थदुःख को विशेष समझते हैं इसलिये वे केवल उपकार काही स्मरण रखते हैं और यदि कोई शत्रुतासे भी अपकार करेता भूलजाते हैं ।

नाप्राप्तं मभिवाञ्छति नष्टंनेच्छन्ति शोचितुम् ।

आपत्स्वपिन भुङ्घन्तिनराः पण्डितबुद्धयः ॥६॥ (हि०)

बुद्धिमान-मनुष्य दुःप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते नष्ट वस्तु का सोच भी नहीं करते आपत्तिकाल में मोहित भी नहीं होते ।

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्तिच कुर्वते ।

नकिञ्चिद्वमन्यन्ते नराःपण्डितं बुद्धयः ॥७॥

जो लोग अपने शक्ति के अनुसार कार्य करने की इच्छा करते हैं और उसी अनुसार कार्य करतेभी हैं और किसी का अपमान नहीं करते वेही पण्डित हैं ।

अरण्ये विजनेन्यस्तं परस्मद्दृश्यते यदा ।

मनसापि नहिंसन्ति तेनराः स्वर्गगामिनः ॥८॥ अ०

जो निर्जन जंगलमें भी परायाधन देख कर जो से भी सालच नहीं करते वे स्वर्ग को जाते हैं ।

शत्रुमित्रेष्वेनित्यं सुख्येन मनसानराः ।

भजनृति मैत्राःसङ्गम्य तेनराः स्वर्गगामिनः ॥९॥ (अ०)

जो शत्रु और मित्र के साथ समभाव से वर्ताव करते हैं अर्थात् दिना से मैत्रीभाव रखते हैं वे स्वर्ग को जाते हैं ।

येप्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम् ।

श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः ॥१०॥

जो जन प्रिय अर्थात् मीठी वाणी बोलते हैं और उसीप्रकार दूसरे का प्रिय अर्थात् भला करना चाहते हैं वेही श्रीमान् और प्रशंसनीय चरित्र हैं और मनुष्य रूपसे साक्षात् देवता हैं ।

नचैवोक्तानं वानुक्ता हीनतः परुषागिरः ।

प्रतिजल्पन्ति वैधीराः सदातूत्तम पूरुषाः ॥११॥ (सभा०)

नोच मनुष्य बुराकहे वा नकहे परधोर जो मनुष्य हैं वे कभी उनका प्रत्युत्तर नहीं देते हैं ।

हिमांशु मालीचयथा नवीत्फुल्लोत्पलंसरः ।

आनन्दयति चितांसि तथासुजन-चित्तितम् ॥१२॥

जैसा चन्द्रमा सर्गावर को जिस में नये फूल कमल हैं शोभित करता है
ऐसे ही सज्जन का आवरण भी चित्त को आनन्दित करता है ।

दयालवञ्च दातारो रूपवन्तो जितेन्द्रियाः ।

परोपकारिणश्चैव तेषुपूर्वा मानवाः स्मृताः ॥१३॥

जो लोग दयावान दानशील रूपवान जितेन्द्रिय और परोपकारो हैं
वे मनुष्य अपुर्व अर्थात् अद्वितीय हैं ।

येपरेषां श्रियंदृष्ट्वा नतपन्ति विमत्सराः ।

प्रचृष्ट्वाश्चाभि नन्दन्तितेनराः स्वर्गगामिनः ॥१४॥

जो मनुष्य दूसरे के ऐश्वर्य को देख के नहीं जलते हैं वरञ्च हिंसारहित
और मनुष्टहीकर आनन्द प्रकाश करते हैं वे जन स्वर्ग का जाते हैं ।

सर्वहिसानि वृत्ताये नराःसर्व सहाश्रये ।

सर्वस्वाश्रय भूताश्च तेनराः स्वर्गगामिनः ॥१५॥ (हि०)

जो मनुष्य सब हिंसाओं से रहित हैं जो सब सहने वाले हैं-जो सब को
आश्रय देनेवाले हैं वे मनुष्य स्वर्ग गामी होते हैं ।

यस्तुशतौव शस्त्रस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम् ।

हस्त प्राप्तश्च वीरस्यतञ्चैव पुरुषं विदुः ॥१६॥

शत्रु के अपने वश में जानिएपर भी वा वीर के पकड़े जानिएपर भी-जो मनुष्य
उसे देखदेने वा मारने को सामर्थ रखके भी उसपर दया करे वही पुरुष
कहालाता है ।

मातृवत्परदारिषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यह पश्यतिसपरिहितः ॥१७॥ (त्रा०)

परस्त्रियों को माता के समान पराधिपन को पुत्र के समान सबजीवों को
अपने समान जो देखता है या मानता है वही परिहित है ।

सजातोयेन जातेन यातिबंधः समुन्नतिम् ।

परिवर्तिनि संसारैः मृतःको वानजायते ॥१८॥ (नि०)

इस संसार में उसी मनुष्य का जन्म सफल है जिस के जन्मन से बंधकी उन्नति हो नही तो गाड़ी के पहिये के समान सदा घूमनेवाले संसार में सभी जन्मते और मरते हैं ।

मनसि वचसि काये पुण्ये पौयूष पूर्णा ।

स्त्रिभुवन मुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।

परगुण परभागान् पर्वती कृत्य नित्यं ।

निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥१९॥ (नि०)

ऐसे जन जगत में विरले हो हैं जिन के मन में वचन में और शरीर में पुण्यरूपी अमृत भरा हो और को उपकार से तीनों भुवनों को तृप्त करनेवाले हैं और दूसरों के छोड़ने भी गुणों को पर्वत समान बढ़ाकर दिखाते हैं और मन में सदा प्रसन्न रहते हैं ।

सम्पत्सु सहतांचित्तं भवत्युत्पल कोमलम् ।

विपत्सु च महाशैल शिख्रासङ्घात कर्कशम् ॥२०॥

सहाता लोगों का चित्त ऐश्वर्य में कमल से भी कोमल और आपत्ति में पर्वत की बड़ी शिखर के समान कठिन होजाता है ।

विपदि धैर्यमथा भुदयेक्षमा

सदसिवाक् पटुता युधिविक्रमः ।

यशसिचाभि रुचिर्व्यसनंश्रुतौ

प्रकृतिसिद्ध मिदं हि महात्मनाम् ॥२१॥ भो०

विपत्ति में धीरज अपनो वृद्धि में क्षमा, सभा में वाणी की चतुरता युद्ध में पराक्रम, यश की इच्छा, शास्त्र में ब्यसन, ये छः गुण महात्माओं में स्वभाव हीसे होते हैं ।

पद्माकरं दिनकरो विकची करोति ।

चन्द्रोविकाशयति कैरवचक्रवालम् ।

नाभ्यर्छती जलधरोऽपि जलंददाति ।

सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभि योगाः ॥२२॥ नि०

जैसे सूर्य बिना प्रार्थना किये ही कमल को खिलता है चन्द्रमा भी कुमुदिनी के समूह को आपसी प्रफुल्लित करता है और मेघ भी बिना भागी ही जल बरमाता है वैसे ही मत्पुरुष भी बिना कहे ही परापकार करने में तत्पर रहते हैं ।

निरर्थं कलहं प्राज्ञा वर्जयेन्मूढ सेवितम् ॥

कौर्तिञ्च लभते लोके नचानर्थेन युज्यते ॥२३॥ हि०

सूखे हथी कलह को करते हैं बुद्धिमान मनुष्य ऐसा नहीं करते हैं और इसी से जग में यश पाते हैं ।

विविधस्यापि दुःखस्य मन्तोषे विलया भवेत् ॥

प्रज्ञया संस्थितस्वार्थं प्रमन्न हृदयो भवेत् ॥२४॥ ग०

एक मन्तोष को प्राप्ति होने पर तीनों प्रकार के दुःख नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार स्थिर बुद्धि वाले का मन मदा प्रसन्न ही रहता है ।

सन्तोषा स्रुत वृत्तानां यत्सुखं शान्तं चेतसाम् ।

कुतस्तद्वन सुवधानामितञ्च तस्यभावताम् ॥२५॥ हि०

जो सुख मन्तोष रूप अस्त से दृप्त शान्तात्स्य पुरुषोंकी है सो सुख इधर अधर टोड़तेहू घन के लोभियों की कहां है ।

सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्यमानसम् ।

उपानद्गुह्य पादस्य ननुचर्मा स्रुतवभूः ॥२६॥ हि०

जिसका मन संतुष्ट है उस को सब संपत्ति है जूतापैर में पहिने हुए मनुष्य को पृथ्वीचमके से मकोड़इसी है ।

सन्तोषम्यरमास्थायं सुखार्थी संयतो भवेत् ।

सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥२०॥ म०

परम सन्तोष का पाके सुखार्थी संयमे (अर्थात् इन्द्रिय निग्रह) करे क्योंकि सुख को जड़ सन्तोष है दुःखको जड़ असन्तोष है ।

तुल्यनिन्दा स्तुतिमौमी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमति भक्तिमान् मे प्रियोजनः ॥२१॥ ग०

निन्दा स्तुति को समान जान प्रियोजन के अनुसार वर्ताने करे और जो प्राप्त हो उसे से संतुष्ट हो बुद्धि स्थिर रखे एसा भक्तिमान् पुरुष ईश्वर को प्यारा है ।

समः शचीव मित्रे च तथा माना पमानयेः ।

श्रीताप्या सुखं दुःखेषु समा सङ्ग विवर्जितः ॥२२॥ ग०

शत्रु मित्र मान अपमान को समान जान और शीत ऊष्ण और सुख दुःख में समतार रख अभंग रहे ।

प्रलये भिन्न मर्यादा भवन्ति किल सागराः ।

सागरा भेद मिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः ॥२३॥ चा०

समुद्र प्रलय के समय में अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं और सागर भेदकी दृष्ट्या भी रहते हैं परन्तु मायुजाग प्रलय होनेपर भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते ।

दोहा : तदपि तजत मर्यादा नहिं साधु समां व गंभीर ।

प्रलयकालहु में रखे मर्यादा मनधीर ।

षष्ठोऽध्यायः

संसर्ग

शुचि त्वं व्यागिता शौर्य्यं समानं सुखं दुःखयोः ।

दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥१॥ हि०

शुद्ध रहना, लोभ न करना, वीरता, सुख दुःख समान मानना, भद्रता, श्रेष्ठ और सत्य प्रेम वेदमित्र के गुण हैं ।

मोहजालस्य यो नर्हि मूढैरेव समागमः ।

अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधु समागमः ॥२॥ हि०

सूदों का समागम मोहका कारण होता है पर साधुओं का समागम धर्म
वृद्धि का कारण होता है ।

देहा । संगति कीजै साध की इरे और को व्याधि ।

भोखी संगति नीचकी आठों पहर उपाधि ।

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्र विप्लवे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स वाम्भवः ॥३॥ हि०

उत्सव, विपद, दुर्भिक्ष, बिद्रीह, राजद्वार और श्मशान में जो साथ करता
है उसी को मित्र समझना चाहिये ।

देहा । सुख में सज्जन बहुत हैं दुःख में लीज हीन ।

सीना सध्वन कसन को विपत कसीटी कीन ।

न कश्चित् कस्यचिन्निव न कश्चित् कस्यचिद्भिपुः ।

व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ॥४॥ हि०

न कोई किसी का मित्र है न कोई किसी का शत्रु है व्यवहार ही से मनुष्य
मित्र या शत्रु होते हैं ।

कौटोऽपि सुमनः सङ्गादारोहति सतांशिरः ।

अस्मापियाति देवत्वमहद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥५॥

कोड़ा भी फूलों के संग से छेष्ट पुरुषों के सिर पर चढ़ जाता है और पत्थर
भी बड़े जनों से प्रतिष्ठा किया हुआ देवत्व को पाता है ।

देहा । उत्तम जनके सङ्ग में सहज होय सुखभास ।

जैसे नृप लावे अंतर सेत सभाजन बास ।

यथोदय गिरैर्द्रव्यं सन्नि कर्षेण दौष्यते ।

तथा सत्सन्निधानेन हीन वर्षोऽपि दीप्यते ॥६॥

जैसे उदयाचल को वस्तु सूर्य के समीप होने से प्रकाशित होती है ऐसे ही

सर्वग से नीच जाति भी प्रकाशित होती हैं ।

देहा । हाथ शब्द मिट कसुपता सत्सङ्गति को पाय ।

जैसे पारस को परस लोह कनक ज्ञेयाय ।

जाडग्रधियो हरतिसिञ्चति वाचिसत्यम्

मानोन्नतिं दिशति पाप मपाकरोति ।

चेतः प्रसाद यतिं दिक्षु तनेति कीर्त्तिम्

सत्सङ्गतिः कथयक्लिन्न करोति पुंसाम् ॥७॥ भ०

सत्सङ्गति बुद्धि की जड़ता को नाश कर देती है वाणी की सत्यता को बढ़ाती है मान की वृद्धि करती है और पाप को दूर करती है चित्त को प्रसन्न रखती है दिशान्तरों में कीर्त्ति को फैलाती है कहिए तो सत्सङ्गति मनुष्य का क्या नहीं करती अर्थात् उससे सभी वस्तु प्राप्त होती हैं ।

सुजनैः सङ्गतं कुर्याद्दमयिष सुखाय च ।

सैव्य मानस्तु सुजनैर्महानति विराजते ॥८॥ शु०

धर्म और सुख के लिये सज्जन का संग करना चाहिए क्योंकि महान् पुरुष सज्जनों से वेष्टित होकर अत्यन्त शोभा पाता है ।

सतांसक्तत् सङ्गत मीप्सितं परं

ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते ।

नचाफलं सत् पुरुषेण सङ्गतं

ततः सतां सन्निवसेत् समागमे ॥९॥

सज्जनों से एक बार भेट होने से ही परम मैत्री हो जाती है सज्जनों का सङ्ग कभी विफल नहीं होता है इस कारण उनका संसर्ग करना चाहिये ।

यथा खननखनित्रेण नरो वार्यधि गच्छति ।

तथा गुरु गतां विद्यां शुश्रूषु रधि गच्छति ॥१०॥ (भ०)

गुरु को सेवा का फल यह है जैसे मनुष्य कुदाही से खादते खादते जलको

प्राप्त होजाता है ऐसे ही गुरु की सेवा करने द्वारा गुरु में स्थित विद्या की प्राप्ति करता है।

दुर्जनैः समं सख्यं प्रीतिञ्चापि न कारयेत् ॥

कश्चोदहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥११॥ हि०

दृष्ट से मित्रता और प्रीति नहीं करनी चाहिये अङ्गार गरम रहने पर तो हाथ जलाता है और ठण्डा होजाने पर भी हाथ काला करता है।

देहादा। संगत से सब डीत है बोही तिल यह तेल।

जातपात सब छिड़ की प्राये नाम फुल्ले ॥

बसि कृसंग-चाहत कृष्ण तुज्जो ये मन सोच।

महिमा घटो समुद्र को रावण बसो परास ॥

सत्संगाद्गुण संभूतिः सपदां लय एव च ।

स्वहितं प्राप्यते सर्वैः रिदिलोकीं परतर्क ॥१२॥ ग०

संतसंग से गुण की प्राप्ति और प्रापति का नाश होता है इसलिये और परलोक में अपना कल्याण होता है।

सत्संगः परमं तीर्थं सत्संगः परमं पदम् ।

तस्मात्सर्वं परित्यज्य सत्सङ्गं सततं कुरु ॥१३॥

सत्संग ही परम तीर्थ है सत्संगत ही से परमपद मिलता है इसलिये सबको छोड़ सत्संग करना उचित है।

मर्त्या परीक्षा मेधावी बुद्ध्या सम्प्राप्य चासहत् ।

श्रुत्वा दृष्टाय विज्ञाय प्राज्ञमवी समाचरेत् ॥१४॥ उ०

वृद्धिमान को चाहिये अपनी युक्ति से परीक्षा करके और बुद्धि में बाँर बार निश्चय करके भक्तीभाति देखे इन और जानकर जानियों से नैषो करे।

सप्तमोऽध्यायः

पुत्र, नारी धर्म इत्यादि

यन्माता पितरौ ज्ञेयं सहिते सन्धवे नृणाम् ।

नतस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुंस्वर्ष शतैरपि ॥१॥ म०

मनुष्योंके जन्म देने और उनके पालनमें जो कष्ट माता पिता सहित हैं उसका बदला सौ वर्षों में भी नहीं दिया जासकता है ।

तयोर्नित्यमिष्टयज्ञुष्यांश्चाचार्यस्यचसर्वदा ।

तेष्वेव त्रिभु तृष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२॥ म०

इस कारण जो बाप माता पिता को और आचार्य अर्थात् गुरु को भली ढंगी उसकी उदा किया करे जो कि इन तीनों को प्रघ्न रखने से ही सब तपस्का पूर्ण होता है ।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमन्तम उच्यते ।

नतैरश्वजनुज्जातौ धर्म्मामन्व्यं समाचरेत् ॥३॥ म०

इन तीनों (माता पिता और आचार्य) को शुश्रूषा अर्थात् टटल करना ही परम तप कहाजाता है, और तीनों की आज्ञा बिना किसी दूसरे धर्म को कभी न करे ।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रयभादृताः ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वा स्तस्या फलाः क्रियाः ॥४॥ म०

जिस मनुष्य ने इन तीनों का सत्कार करलिया है उसने माना सब ही धर्मों का यथाचित परिपालन करलिया है और जिसने इन तीनों का आदर सत्कार नहीं किया जाना कि उसके सबही कर्म निष्फल हैं ।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः

त एव हि त्रयो वेदास्त एवाक्तास्त्रयौग्नयः ॥५॥ म०

तोनों लोक तीनों आश्रम तीनों वेद तीनों अग्नि वेदो तीनों हैं ।

तत्कर्म नियतं कुर्याद् येन तुष्टो भवेत् पिता ।

तन्नकुर्याद् येन पिता मनागपि द्विषीदपि ॥६॥ शु०

ऐसा काम करना चाहिये जिससे पिता मन्तुष्ट होवे और ऐसा काम नहीं करना चाहिये जो कि द्विषद् भी उस को बुरा नगै ।

पुत्रस्य पितु राज्ञाहि परमं भूषणं स्मृतम् ।

भागवेषु ऋषा माता राज्ञ वस्तु वनं गतः ॥७॥ शु०

पिता कि आज्ञा पालन करना पुत्र के लिये श्रेष्ठ भूषण कहा है क्योंकि पिता को आज्ञा पालन करने के लिये परशुराम ने अपना माता को मार डाला और श्रीरामचन्द्र जो न वन वाम लिया ।

श्रीचन्ति जामयो यन्न विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

नश्रीचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तर्ह्य सर्वदा ॥८॥ म०

जिन कुल में स्त्री दुःख पाती हैं वज कुल शीघ्र ही नष्ट होजाता है और जिन कुल में जो दुःख नहीं पाती हैं वज कुल नष्टा वढ़ता है ।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्ता भार्य्या तयैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वैभुवम् । ॥९॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहते हैं उस कुल में आनन्द लक्ष्मी और सौभाग्य निवास करते हैं ।

छायेवानुगता स्वच्छा सखीवहित कार्ष्णेषु ।

दासीवा दिष्टकार्ष्णेषु भार्याभर्तुः सदा भवेत् ॥१०॥

स्त्री को चाहिए कि छाया के समान पति के अनुगत रहे उस के हित काम में सखी के समान होवे और दासी के लुब्ध उस को आज्ञा में तत्पर रहे ।

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा ।

रुष्टा यस्या यथा पत्यौ सा नारौ धर्म भागिनौ ॥११॥ शु०

जे. स्त्री काम भोग ऐश्वर्य आर सुख में ऐसी इच्छा नहीं रखती जैसे अपने पति में रखती है वही धर्म की भागिनो होती है ।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या शुभेधिनः ।

भार्या वन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ॥१२॥

जिन को भार्या हैं उनको क्रिया मफल हैं जिन को भार्या हैं वही रुद्धि है भार्यावाले ही आनंद करते हैं और भार्यावाले ही आसान हैं ।

सभार्या या रुहे दत्ता । सभार्या या प्रजावती

मनावाक्कर्मभिः शुद्धाः । पतिदेशानु वर्तिनी ॥१३॥

भार्या वही है जो घर के काम धरों में निपुण है भार्या वही है जिस के मन्तन उत्पन्न होता है भार्या वही है जो पति के आज्ञा में रहती है और मन वचन तथा कर्म से शुष रहती है ।

स्वभाव एष नारोणां नराणामिह दूषणम् ।

अतीर्थान्न प्रमादन्ति प्रमदास्तु विपश्चितः ॥१४॥ म०

मनुष्यों को अपने अंगार आदि की चेष्टासे मोहित करके दूषित करना यह स्त्रियों का स्वभ वही है इसलिये पण्डित लोग नारी के विषय में सावधान से रहते हैं अर्थात् उच्चात नहीं होते हैं ।

अविद्वान्समलं लोके विद्वान्समपि वायुनः ।

प्रमदा ह्युत्पद्यन्ते तु ह्यस क्रोधवशानुगम् ॥१५॥ म०

काम क्रोध सहित हो वा पण्डित हो चाहे भूर्ख हो उसे निमित्त राहपर लज्जाने को स्त्री समर्थ है ।

विशीलः कामवृत्तो वा शुचैर्वा परिवर्जितः ।

उपचर्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत्पतिः ॥१६॥

शील रहित उन्नत अथवा गुणों से रहित कौसे ही क्यों नहे पतिव्रता स्त्री के निकट पति देवता के समान सेवा करने के योग्य है।

अष्टमाऽध्यायः

लोभ

आशानामनदी अनारथ जला, तन्ना तरंगाकुला

रागयाहवती वितर्क विहगा, धैर्य्यं द्रुम ध्वंसिनी ।

मोहावर्तं सुदुस्तराऽतिगहना प्रीतुङ्ग चिन्तातटौ ।

तस्याः पारगता विशुद्ध मनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥१॥ (भ)

आशानाम एक नदी है जिसमें अनारथ का जल भरा है उससे तृष्णा की तरंग वारवार उठाकमती है राग जो उसमें भगर है नाना प्रकार के तर्क अर्थात् शुभ अशुभ विचार जो उसमें पकी हैं धैर्य रूपो वृक्ष को उखाडने वाली है मोह रूपी भीरा उस में पडा है इस से बडी दुस्तर और कठिन हो रही है बडी चिन्ता हो उसके तट हैं उस से पार होकर केवल वडे शुद्ध मनन शील योगी जो भाग्य को पाते हैं।

लोभेन बुद्धिश्छलति लोभो जनयते तृष्णाम् ।

तृष्णार्तो दुःखः माप्नोति परत्रेह च मानवः ॥२॥ हि०

लोभ से बुद्धि चलायमान हातो है बही तृष्णा अर्थात् कामना को उत्पन्न करता है कामना वाका अनुष्य इस लोक तथा पर लोक में दुःख पाता है।

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुता । छित्तारः

संशया नीचं ह्यिच्छन्ते लोभ मोहिताः ॥३॥ हि०

बड़े शास्त्रों को पढ़े व सुने हुए और बहुत संशयों को दूर करने वाली भी अनुष्य लोभ में ग्रस्त होकर दुःख को पाते हैं।

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते ।

लोभान्मोहश्च नांशश्च लोभेः पापस्यकारणम् ॥४॥ हि०

लोभ से क्रोध होता है; लोभ ही से काम की उत्पत्ति है लोभ से ही मोह और नाश होता है; लोभ ही पाप का कारण है ।

धनलुब्धोऽसंतुष्टोऽनियतात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वाण्यपदस्तु यच्छृणुं नमानसम् ॥५॥ हि०

धन का लोभो असन्तोषो अनियतात्मा अजितेन्द्रिय आर जिसका मन प्रसन्न नहुआ उस को सब अपात्ति होता है ।

असंभवं हिम मृगस्य जन्य तथापि रामो लुलुभे मृगाय । प्रायः

समापन्न विपत्ति काले धियोऽपिपुसां मलिनौ भवन्ति ॥६॥ हि०

सीने का मृग का जन्य असंभव है तौभी राम ने मृग के लिये लोभ किया वहुधा विपत्तिकाल आनेपर पुरुषों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है ।

नवमोऽध्यायः

नीति

लोभः स्वप्नोऽसृष्टिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्न वृत्तिता ।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुण-लक्षणम् ॥१॥ (म)

तमो गुणके लक्षण ये हैं अर्थात् लोभ (अधिक धन आदि की इच्छा) स्वप्न (नियमसे अधिक सोना) अघैर्य अथवा कांयरण, क्रूरता नास्तिकता । (ईश्वर या परलोक को नमानना) शास्त्रोक्त आचार से भिन्न आचार रखना मागने का स्वभाव डालना और उनमत्तता अथवा असावधान रहना ।

फलपलब्धिः प्रत्यक्षः हेतुना नैवदृश्यते ।

प्राक्कर्म हेतुकी सातु नान्यथैवेति निश्चयः ॥२॥ (शु)०

कोई कार्य ऐसा होता है जिसमें फल की प्राप्ति दृश्यमान कारण से नहीं

देख पड़ती उसमें निश्चय करके पूर्व जन्म का संचित् कर्म ही हेतु है ।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयन्तरफल मश्नुने ।

स्वयं भ्रमति संसारे स्वयन्तस्माद्भिमुच्यते ॥३॥ (चा)

जोव अकेलाही कर्म करता है और उनका फल भी अकेला ही भोगता है आप ही संसार में भ्रमता है और आपको उस से मुक्त भी होजाता है ।

परोत्कर्षा सहिष्णुत्वं परकृत्य पराहतिः।

इत्याद्या वहवश्चान्ये राक्षस्याः प्रकृतेर्गुणाः ॥४॥

दूसरे की उत्कर्षता न मझनी दूसरे के काम को नष्ट करना इत्यादि बहुत से राक्षसी प्रकृति के गुण है ।

कर्म कारीन्द्रिययामं नियम्यास्ते स्मरन्पुमान् ।

तन्नोचरान्बन्धुचित्तो धिगाचारः सभाष्यते ॥५॥ गु०

जो कर्म करने वाला इन्द्रियों को रोक कर मन ही मनमें इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता है वह दुरात्मा तुच्छ आचार वाला कहा जाता है ।

दुराचारो ही पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।

दुःख भागीच सततं व्याधितोऽत्यायुरेवच ॥६॥

दुष्ट कर्म करने वाला पुरुष-संसार में निन्दित होता है नित्य दुःख पाता है और रोगो होने से अत्यायु भी होजाता है ।

वेदाख्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्चतपांसिच ।

नविप्र दुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥७॥ वि०

जो दुष्टचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उस के वेद त्याग यज्ञ नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं ।

नघर्मं शास्त्रं पठतीति कारणं

नचापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।

स्वभाव एवात्र तश्चाति रिच्यते

यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥२॥ (हि०)

दुष्ट को धर्म शक्ति पढ़ाना और वेद का पढ़ाना धार्मिकता का कारण नहीं है उस में स्वभाव ही का बल सर्वोपरि है जैसा गाय का दूध स्वभाव ही से मोठा होता है।

अन्योदया सहिष्णुश्चिद्रदर्शी विनिन्दकाः

द्रोहशीलः स्वान्तमलः प्रसन्नाख्यः खलः स्वयः ॥३॥ (शु०)

जिम को दूसरे का भला अच्छा नहीं लगता हो दोष देखने वाला हो, निन्दक हो, द्रोह करने वाला हो और भीतर अन्तः कारण में मल भरो हो और बाहर मुग्ध से प्रसन्न दिखाई दे उस को अन्त कहते हैं।

मनखन्यद्वचखन्यत्वा मखन्यद्वरात्मनाम् ।

मनख्यकं वचस्येकं कर्मख्यकं महात्मनाम् ॥१॥ (हि०)

दुष्ट के मन में वचन में और काम में और होता है परन्तु महात्माओं के मन में एक वचन में एक, कर्म में एक होता है।

जयेत् कदर्थ्यं दानेन सत्येना नृत वाग्निम् ।

क्षनया क्रूर कर्माण मसाधु साधुना जयेत् ॥११॥ (वन०)

दानसे लोभी को जय करे मत्स्यवचन से मिथ्यावादी को, क्षमा से क्रूर को धर्म से अधर्मों को जय करे।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेव धर्मः सनातनः ॥१२॥ वि०

सच बोलें और प्रिय बोलें अप्रिय सत्य भी नहीं बोलना चाहिए और प्रिय मिथ्या भी न बोलें यही सनातन धर्म है।

विद्यागमार्थं पुत्रस्य हृत्यर्थं यतते चयः ।

पुत्रं सदा साधुशक्ति प्रीति कृतस पिता नृणौ ॥१३॥ (शु०)

जो पिता पुत्र के विद्या लाभ और उस के जीविका के अर्थ यत्न करता है

और पुत्र को भला उपदेश करता है वह अनृत्यो पिता उस के प्रेम को बढ़ाता है।

विप्रादप्य स्रतंग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।

अमित्रा दपि सद्वृत्त ममेध्यादपिकाञ्चनम् ॥१४॥ (म०)

अमृत विषमें भी मित्राहो तौयी विष को खजग करके इसे ग्रहण करलेना चाहिए अच्छी बात-को यदि वास्तव भी कहे तो उस से भी मोखलेना चाहिए भला आचरण यदि शत्रु भी करे तो उस का अनुकरण करना चाहिए और सुवर्ण यदि मैले तें भी पडा जाती उसे उठालेना चाहिए ।

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्यालङ्घतोपि सन् ।

मगिना भूषितः सर्पः किंमसौ नभयङ्करः ॥१५॥ (हि०)

दुर्जन यदि विद्यावान भी है तोभी उस से दूर रहना चाहिए यदि सर्प के शिर पर मणि शोभित भी-हो तो क्या लोग उस से नहीं डरते ? !

दुराचारी दुरादृष्टिर्दरावासी च दुर्जनः ।

यन्मैत्री क्रियते पुष्किर्नरः शीघ्रं विनश्यति ॥१६॥

जिसका आचरण बुरा है जिस को दृष्टि पाप में रहती है जो बुरे स्थान में वास करता है और दुर्जन इन पुत्रों के साथ भी मैत्री करता है वह नर शीघ्र हो नष्ट होजाता है ।

दिहा । बुरे आचरण वास के वास दृष्टिमें पाप

बुरे ठौर में जो बसे जो दुर्जन है आप ।

दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः ।

सर्पो दंशति काले तु दुर्जनस्तु पदे पदे ॥१७॥

दुर्जन और सर्प इन में सांप अच्छा दुर्जन बुरा इस कारण कि सांप काल जानेपर काटता है खल तो पद पद में ।

दिहा । दुर्जन पद पद पर उसे सर्प काल को पाय ।

सातें दुर्जन सर्प तें अधिक हीत दुखदाय ।

त्यजदेकं कुलस्वार्थं ग्रामस्वार्थं कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थं पृथग्नीं त्यजेत् ॥१८॥

कुल के निमित्त एक को छोड़ देना चाहिये ग्राम के हेतु कुलका त्याग करना उचित है देश के अर्थ ग्राम का और अपने अर्थ पृथग्नी का अर्थात् सब का त्याग ही उचित है ।

टीका । एक तर्जै कुल अर्थ हितः ग्राम कुलके अर्थ ।

देश अर्थ ग्रामहे तर्जे, देश आतमा अर्थ ।

पङ्दीपाः पुरुषेणोह हातव्या भूतिमिच्छता ।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥१९॥ हि०

सम्पत्ति के चाहने वाले पुरुष को, चाहिये कि, निद्रा तन्द्रा (उत्साह शून्यता) भय क्रोध आलस्य और दीर्घ सूत्रता (काम देर लगाकर करना) इन छ दिर्घों को त्याग करे ये, कहीं दाय कार्य के विगाडने के लिये हैं इसमें संदेह नहीं है ।

नहोद्गं संवननं विषु लोकीषु विद्यते ।

दया मैत्री च भूतेषु दानञ्च मधुराचवाक् ॥२०॥ शु०

सब प्राणियों में दया और सुहृद्भाव, रखने तथा देने और मधुर वाक्पनि के तुल्य इस विभुवनमें कोई भी वशी करण नहीं है ।

येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि देहिमः ।

संतीर्षं जनयेद्धर्मां सदेवेष्वरं पूजनम् ॥२१॥

जो मनुष्य किसी उपाय करके किसी देहधारो के आत्मा को संतीर्ष पहुंचाता है वही पूर्ण रीति से ईश्वर का पूजन करता है ।

कुक्षिनन्दन्तमलोपधारिणं वक्ष्णाग्निन्निष्ठुरभाषिणं च ।

सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चतिश्रीर्यद्विचक्रपाणिः ॥२२॥ चा

मलिन वक्ष्णधारण करने वाले को, दांतों के मल दूर न करने वाले को,

वहुत भोजन करने वाले को, कटु वचन बोलने वाले को, सूर्य के उदय और अस्त समय में सोने वाले को लक्ष्मी छोड़ देतो है चाहे वह विष्णु भी हो ।

यस्मिन् कर्मणि सिद्धेऽपि लभ्यते न फलो दयः ।

असिद्धेऽपि महदुखं तद्बुधः कथं माचरेत् ॥२३॥

जिस काम के सिद्ध होने पर भी कुछ फल न मिले और अभिष्ट होने में महादुःख होता ऐसे काम को ज्ञानी क्यों करे ।

अविमन्वादेको दक्षः कृतज्ञो मतिमान्बुधः ।

अपिसंज्ञीण कोषोऽपि लभति परिशरणम् ॥२४॥ ३०

जो किमो से नहीं डरता है, जिससे और जन भी नहीं डरते-वही पुण्य यथार्थ ज्ञानी है और वही मनुष्यों में उत्तम है ।

बालस्यं मदमोहो च चापलं गीष्टिवैच ।

स्तब्धता चाभिमानीत्वं तथा त्यागित्वं मेव च ॥२५॥ वि०

बिद्या को इच्छा करने वाले को इन भात अवगुणों को छोड़ना चाहिए बालस्य, गर्व, चंचलवृत्ति, वाने, उन्नतता, मान, लाभपना ।

एते वै मम शेषाः स्युः सः विद्यार्थिनां मताः ।

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्

सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥२६॥ वि०

नाम्निस्तप्यति काष्ठानां नापगानां महादधिः ।

नान्तकः सर्वभूतानां न पुसां वामलोचनाः ॥२७॥ वि०

वेसात टोष-विद्यार्थियों के लिये कहेंगे हैं सुखकी इच्छा करनेवाले को विद्या कहां विद्या को इच्छा करने वाले को सुख कहां इसलिये सुखी को विद्या छोड़नी विद्यावान को सुख छोड़ना अर्थात् सुख और विद्या दोनों साथ नहीं प्राप्त होते ।

लकड़ियों से अग्नि को तपि नहीं होती नदियों से समुद्र तप्त नहीं

होता संव प्राणि मान से न्यून्य व्यन नहो' होती पुरुषो' से हिनाल स्त्री तम नहो' होती ।

पुरुषा वहवो राजन् सततंप्रिय वादिनः ।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥२८॥ नि०

हेराजन् ! इस संसार में प्रियबोलने वाले पुरुष तो बहुत हैं परन्तु अप्रिय किन्तु हित कहने और सुनने वाले पुरुष दुर्लभ हैं ।

एकैकशोविनिघ्नन्ति विषया विषसंज्ञभाः ।

किं पुनः पञ्च मिलिताः न कथं नाशयन्तिहि ॥२९॥ (शु)

एक एक भो विषय विष के समान मारहालता है जहाँ पाचों मिलीहो' वहाँ क्या नहो' करेगी अर्थात् जहाँ पाचों हैं वहाँ तो अवश्य नाश करेगी ।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥३०॥ म०

अधर्म करने वाला पहिले हहि पाता है फिर कल्याण को देखता है फिर शत्रुओं को जोतता है; पश्चात् मूल सहित नष्ट होजाता है ।

बन्धोहि काये विषयानुरागः

कावा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः ।

को वाऽस्ति चैरो नरकः स्वदेहा

दृष्ट्वा ह्ययः स्वर्गं बटं किमस्ति ॥३१॥

बन्धन क्या है विषयों में प्रीति मुक्ति क्या है विषयों में वैराग्य/बड़ा नरक क्या है अपना ही देह स्वर्ग प्राप्ति क्या है ? आशा दृष्ट्वा का त्वाग ।

विषयान्निषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम् ।

तन्निरुध्यात् प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥३२॥ (शु०)

मन विषयरूपो भाग्यपदार्थ के लोभ से इन्द्रियों को चलावमान करदेता

है इसलिये उस को प्रयत्न से राके उमो की जीते जानेपर मनुष्य जितेन्द्रिय है।

क्रोधादज्ञान संभ्रूतिर्विभ्रमस्तुततः स्मृतेः ।

भ्रंशात्स्मृते मतेर्ध्वंसस्तदध्वंसात्सोऽपि नश्यति ॥३३॥

क्रोध से अज्ञान और इससे स्मृति भ्रंश होती है स्मृति भ्रंश होने में बुद्धि नष्ट होजाते है, और बुद्धि के नष्ट होने से यह प्राणी नष्ट होजाता है।

कामाभिभूतः क्रोधाद्वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।

स्वेषुचान्येषु वातस्य नमहाया भवन्त्यतः ॥३४॥ ग०

जो मनुष्य काम वा क्रोध के बश में होकर अपने वा पराये में कपट करता है उस का कोई भी सहायक नहो जाना।

प्रस्ताव मदृशं वाक्यं मद्गुणं सदृशं प्रियम् ।

आत्म शक्ति समं कोपं यो जानाति सपण्डितः ॥३५॥ (चा)

प्रमंग के अनुभार वीनचाल मझे प्रेम से धार और अपने शक्ति अनुभार क्रोध को जो जानता है वही पण्डित है।

यथाहि निपुणाः मन्थक् परदाषे जगंप्रति ।

तथाचि निपुणाःस्वेषु कौनमुच्यत् वन्धनात् ॥३६॥ शु०

जैसे यह जोव औरों के दाष खोजने में बडा निपुण है वैसे यदि अपने दाषों के देखने में निपुण होवे तब कौन संसार रूपो बन्धसे से न छूटे अर्थात् सबही छूट सकते हैं।

द्यूतं स्त्री मद्यसिवैतत् वितयं बह्वनर्थकत् ।

अयुक्तं युक्ति युक्तं चि धन पुत्र मति प्रदम् ॥३७॥ शु०

द्यूत, स्त्री, मद्य, येतीन जब अति सेवन किये जावेतो बडे अनर्थ कारी है येही तीन युक्ति से सेवत्र किये जावे तो धन, पुत्र, विद्या, देने वाली होते हैं अर्थात् येडे सेवन से, जूवा धन को, स्त्री पुत्र को, मद्य विद्या को बढ़ाता है।

संसारदृत्कः श्रुतिजात्म बोधः
 को मोक्ष हेतुः कथितस्त्वएव ।
 द्वारं किमेकं नरकस्य नारी
 स्वर्गप्रदं किं जगतामहिंसा ॥३८॥

संसार कुडानेवाली क्या वस्तु है विद्वान्त, मोक्ष का कारण क्या है, आत्मज्ञान, नरक का एक मार्ग क्या है, स्वर्ग, स्वर्ग देनेवाली वस्तु क्या है, किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ।

कावादरिद्रोऽति विशाल दृष्ट्याः
 श्रीमांश्च को यस्य मनश्चतुष्टम् ।
 जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः
 कावा मृतिर्हीनजने दुराशा ॥३९॥

दरिद्री कौन है जिस को बड़ो दृष्ट्या है, धनवान कौन है जिस का मन चतुष्ट है, जोनेपर भी मराहृथा कौन है जो उद्यम हीन है, शृष्टु के समान क्या है, नीच मनुष्यों की आशा करना ।

कुसुमस्तवकखेव द्वेषत्तौ तु मनस्विनः ।

सर्वेषां मूर्ध्निवातिष्टेद्विशीर्येत् वनेऽथवा ॥४०॥ नि०

फूलो के गुच्छों की नाई विद्वान को द्वा गति हैं यातो सब के मस्दाक पर रहना या वन में पड़े पड़े बिखरा रहना ।

अथभद्राणि भूतानि हीन शक्ति रहम्यरम् ।

मृदुं तथापि कुर्वीत हानिदेष फलंयतः ॥४१॥ (वि)

सब लोग विद्या धनादि में कुशली हैं और अपने में कोई पराक्रम नहीं है यह देख किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए परन्तु विनोत हो के चलना उचित है क्योंकि दोष से हानि ही होती है ।

निवृत्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु

लङ्घ्योः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अथैव वा सख्यमस्तु युगान्तरे वा

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥४२॥ नि०

नोतिज्ञ लोग निर्या करे अथवा स्तुति, लङ्घनी मनमानो आवे अथवा चको क, वे, आज्ञा हो मरना होय, अथवा युगान्तर में, परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से पाव विचलित नहीं करते ।

शुणाशुणक्षेत्रे शुणाः भवन्ति

तेनिर्गुणां प्राप्य भवन्तिदोषाः ।

आस्वाद्य तोयाः प्रभवन्ति नद्यः

समुद्र मासाद्य भवन्त्यपियाः ॥४३॥ (भ)

शुणों के जानने वालों में शुण को प्रशंसा जाती है बड़े निर्गुणियों में दोष होजाते हैं जैसे नदियां खादिए जल वाली होने पर भी समुद्रमें मिलकर अप्रिय अर्थात् खारो जल होने से पीने के योग्य नहीं रहते हैं ।

शुणायन्ते दोषाः सुजन वदने दुर्जन सुखे

शुणा दोषायन्ते किमिति जगतां विस्मय पदम् ।

यथाजीमूतोयं नवण जलधेर्वारिमधुरं

फणी पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम् ॥४४॥ (भ०)

श्रेष्ठ पुरुषों के सुख में जाकर दोष भी शुणरूप होजाते हैं और दुर्जनों के सुख में जाकर शुणभो दोष रूप होजाते हैं यह जगत् में आश्चर्य है जैसे भेड़ समुद्र के खारी जल को पान करके मधुर जल वरसाते हैं और सर्प दूध को पान करके विष को वरसाता है वैसे ही निर्दक शास्त्ररूपी अमृत को पान करके निर्दररूपी विष को वरसाते हैं ।

दैवे समर्थं चिरसञ्चितमोहजालं
सुस्थाः सुखं रसत किं परयाचनाभिः ।

मेरुं प्रदक्षिणयतोऽपि दिवाकरस्य
ते तस्य सप्त तुरगा न कदाचिदष्टौ ॥४५॥ (शा०)

बहुत दिनों के इकट्ठे किये हुए मोह जालों को दैव के अर्पण करके अर्थात् छेड़ के सुख से आनन्दित होके रहें दूरमे से भागने से क्या होता है . (देखो मोने का पहाड़) मेरु के चारोंओर घूमकर भी सूर्य सात ही घांटे रखते हैं कभी आठ न हुए. अर्थात् याचना करके भी भाग्य से अधिक कुछ नहीं मिलता ।

प्रारभ्यते नखलुविघ्न भयेन नीचैः ।

प्रारभ्य विघ्न विहिता विर मन्ति मध्याः

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्य मानाः

प्रारभ्य चात्तम जना न परित्यजन्ति ॥४६॥

विघ्न के डरसे नीच मनुष्य कार्य का आरंभ ही नहीं करते. मध्यम जन आरम्भ करके विघ्न को देख कार्य को छोड़ते हैं परन्तु उत्तम जन वारंवार विघ्न होने पर भी कार्य का आरम्भ करके परित्याग नहीं करते अर्थात् उस को पूरा ही करके छोड़ते हैं ।

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।

कूपस्थ खनिता यदत् प्राकार खैव कारकः ॥४७॥

मनुष्य अपने ही किये से उच्चता और नीचता को प्राप्त होता है जैसे दीवार का बनाने वाला क्रमशः उपर को ही चढ़ जाता है और कूवा खोदने वाला क्रमशः नीचे को ही जाता है ।

सुमन्विते सुविज्ञान्ते सुकृते सुविचारिते ।

सिद्धन्धर्याः महावाहा दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥४८॥

मनो भाति साधविचार और आंगा पीछा देख कर जो कार्य किये जावें

वे मव निद्वहेति हैं. इस में देवभो सहायक होता है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्म वशं सुखम् ।

एतद्विद्यात्ममासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥४६॥ (म०)

मव परावे आधोन काम अर्थात् जो अपने वश के नहीं हैं वे दुःख के कारण हैं और सब अपने आधोन काम सुखदायी होते हैं. इसी संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिए।

येषां नविद्या नतपो नदानं

नचापिशौलं नगुणो नधर्मः ।

तेमृत्युलोके भुविभार भूता

मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ॥५०॥ म०

जिन लोगों के नविद्या है न तप है न दान है न शील है न गुण है और न धर्म है. वे इस संसार में पृथ्वी को भार देने वाले होकर मनुष्य के रूपसे मृग फिर रहे हैं

आहारि व्यवहारेच त्यक्तलज्जः सुखीभवेत् ।

धनं मैत्री करंदाने शत्रु कारणम् ॥५१॥ शु०

आहार और व्यवहार में जो मनुष्य लज्जा को छोड़े रहता है. वह सुखी रहता है क्योंकि धन देने के समय तो मैत्री और लेने के समय शत्रुता कराता है।

सदात्ममनुष्यपक्वत महत् साधुषु जायते ।

मन्यते सर्वपादक्षं मञ्जोपकृतंखलः ॥५२॥ शु०

भले जो वी में थोड़ा भी उपकार करना बहुत ही जाता है कपटी मनुष्य बड़े भारी उपकार को सरसों से भी छोटा समझता।

कृत्वास्वान्ते तथौदार्यं कार्पण्यं वहिरेवच ।

उचितं तु व्ययं काले नरः कुर्यान्न चान्यथा ॥५३॥ शु०

मनुष्य को चाहिए कि मन में तो उदारता और बाहर से छपणता पर समय के उपर यथायोग्य व्यय करे अन्यथा व्यय न करे ।

धीमन्तोऽवन्द्यचरिता मन्यन्ते पौरुषं महत् ।

अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लीवादैवमुपासते ॥५४॥ शु०

बुद्धिमान् और उदारचित्त वाले पुरुषार्थ को बड़ा मानते हैं आससी असमर्थ लोग भाग्य को मानते हैं ।

नित्यं मनोऽपहारिष्या वाचाप्रज्ञादयेज्जगत् ।

उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग् धनदोऽपिसन् ॥५५॥ शु०

मनोहर वाणी से जगत् को सदा सन्तुष्ट करे क्योंकि कंटु बोलने वाला यदि धन दाता भी हो तोभी लोगों के चित्त को खिन्न करता है ।

अशुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलीनरः ।

सर्वतः सारमादद्यात् पुण्येभ्य इवषट्पदाः ॥५६॥ (शु)

जैसे भ्रमर छीटे वड़े सब फूलों से सार खींच लेता है वैसे ही बुद्धिमान् छीटे वा वड़े सब शास्त्रों से सार ग्रहण करलेता है ।

अवश्यमेव मोक्षव्यं कृतंकर्मफलं नरैः ।

प्रतीकारैर्विनानैवप्रतीकारे कृते सति ॥५७॥ शु०

पूर्व जन्म के कर्मों को शान्ति किये विना मनुष्यों को उन्का फल अवश्य भागना पड़ता है पर उन्की शान्ति करने पीछे नहीं ।

यश्चस्तेही भयं तश्च स्तेही दुःखश्च भाजनम् ।

स्तेह मूलानि दुःखानि तानित्यक्त्वा वसित्सुखं ॥५८॥ (चा)

जो किसी चीज में प्रीति रखता है उसी को भय होता है, स्तेह ही दुःख

का पाच है और सब प्रकार के दुःखों का मूल भी खीड़ ही है इस कारण उसे खीड़कर सुख से वसे।

• तृणानिभूमिरुदकं वाक् चतुर्थी चसूनृता ।

एतान्यपि सताङ्गे हि नोच्छ्रियन्ते कदाचन ॥५६॥ (हि)

दृण भूमि जल चौथो भ्रमर घाणो ये चार वस्तु मत्पुरुषों के घर में कभी नष्ट नहीं होती हैं अर्थात् ये पदार्थ सत्कार के लिये सब के घर में विद्यमान रहते हैं।

अर्थेन, तु विहीनस्य पुरुष ख्याल्पमेधसः ।

उच्छ्रियन्ते क्रियाः स्वर्वाः शीघ्रै कुसरितौ यथा ॥६०॥

निर्धन अल्प बुद्धि पुरुष कीं सब क्रियां विगड़ती हैं जैसे घोषम ऋतु में छोटो नदियां सूखजाती हैं।

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः ।

मंत्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते ॥६१॥

सर्प और खल ये दोनों क्रूर हैं सर्प से खल अधिक तर क्रूर है क्योंकि सर्प मंत्र और औषधि से वश होसकता है खल किससे निवारित होसकता है अर्थात् किसीसे नहीं।

वित्तम्बन्धुर्वयः कास्म्यं त्रिद्या भवति पञ्चमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥६२॥ स०

द्रव्य, वस्तु, वय, कर्म, विद्या ये पांच मान्य वस्तु हैं इस में पूर्व से उत्तर उत्तर बढ़ा है।

सर्वस्य हि परीचन्ते स्वभावानेतरैः गुणैः ।

अतौत्स्य हि गुणान्स्वर्वा न स्वभावोऽसुधिं वर्तते ॥६३॥ हि०

स्वभावही सब का परीचा क्रिया जाता है अन्यगुण नहीं क्योंकि सब गुणों को खीड़ स्वभाव ही सब के उपर रहता है।

शास्त्राण्य धीत्यापि भवन्ति मूर्खा

यस्तु क्रियावान्पुरुषः न विद्वान् ।

सुचिन्तितं चोपव मातुराणां

न नाम मात्रेण करोत्यरोगम् ॥६४॥ भ०

शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख रह जाते हैं शास्त्र के उपदेश के अनुसार ही चलेते हैं वही विद्वान् हैं क्योंकि रोगियों को नाममात्र से सोधी हुई भी औषध नो रोग नहीं करती ।

अल्पानामपि वस्तूनां महतिः वार्य्य साधिका ।

दृशौर्गुणत्व मापन्नै र्वध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥६५॥ (हि०)

यदि छोटा छोटा चीज भी इकट्ठी किई जावे तो उससे बड़ा बड़ा काम होसकता है जैसे बहुत तूणों को इकट्ठा कर रख्य वनाया जावे तो उससे मस्त हाथी बाधे जाते हैं ।

क्षणशः कणश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।

न त्याज्यौ तु क्षण कणौ नित्यं विद्याधनार्थिना ॥६६॥ शु०

पलपल में विद्या का, दाना दाना करके धन का संग्रह करना चाहिए विद्या के संचय करने वाले को क्षण का और धन के संचय करने वाले को कण का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए ।

कः कालः कानि मित्राणि कोदेशः कौत्र्यया गमौ ।

कस्याहं काचमे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥६७॥ (चा)

कौन समय है कौन मित्र है कौन देश है क्या व्यय और क्या प्राप्ति है मैं कौनहूँ सुभ में कितनी सामर्थ्य है इनवातों का विचार मनुष्य हर समय रखे ।

पारतन्त्र्यात् परं दुःखं न स्वातन्त्र्यात् परं सुखम् ।

अप्रवासौ गृहौ नित्यं स्वतन्त्रः सुखमेधते ॥६८॥ शु०

पराधीनता के समान दुःख नहीं है और स्वाधीनता के समान सुख दूसरा

नहीं है जो बिदेश में नही आर स्वाधीन हो वही गृहस्थ सदा सुख पाता है।

किं कुलं व्रत हीनस्य करिष्यति दुरात्मनः ।

कृमयः किन्न जायंते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥६६॥

व्रत हीन पुरुष की उत्तम कुल क्या सहायता करेगा क्या सुगन्धि वान्ते पुष्पों में कीड़े नहीं उत्पन्न होते किंतु होते ही हैं ऐसे ही वद भी एक कीड़ा है।

दातृणां धार्मिकाणां च-सूराणां कीर्त्तनंसदा ।

शृणुयात् तु प्रयत्नेन तच्छिद्रं नैवलक्षयेत् ॥७०॥ शु०

दान शील धर्म शील और वीर पुरुषों की कथा सदा प्रयत्न पूर्वक सुने और उनके दोषों पर दृष्टि न देवे-

मातृ पितृ गुरु स्वामि भ्रातृ पुत्र सखिष्वपि ।

न विशिष्ये वापि कुर्यान्ज्ञानसापि क्षणं क्षापित् ॥७१॥ शु०

माता पिता गुरु स्वामी भाई पुत्र और मित्रों से कदाचित् क्षणमात्र भी कार्य से तो क्या मन से भी विरोध न करे और न उनका अपकार करे।

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।

धर्मे स्वीय मनुष्टानं कस्य चित्तु महात्मनः ॥७२॥

औरों की उपदेश करना तो सब मनुष्यों को सहज है अपने धर्म में आप तत्पर रहना विरलेही महात्मा का काम है।

अनित्यानि शरीराणि विभवीनैव श्राश्रुतः ।

नित्यं सं निहितौ नृत्युः कर्त्तव्यौ धर्म संग्रहः ॥७३॥ हि०

शरीर नाशमान है धन सम्पत्ति भी सदा नहीं रहती मृत्यु सदा शिर पर खड़ी है इस कारण धर्म का संग्रह करना योग्य है।

प्राणा यथात्मनाऽ भौष्टा भूतानामपितैतथा ।

आत्मौपम्येनभूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥७४॥ हि०

जैसे अपने प्राण अपने को प्रिय लगते हैं वैसेही औरों को भी अपने प्राण प्रिय होता है इस भाव से साधुजन सब प्राणियों को अपने ही समान सुख में सुखे तथा दुःख में दुःखी जानकर उनपर दया करते हैं ।

अजरा भरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं चिन्तयेत् ।

गृहीत इव के श्रेष्ठसृष्ट्यना धर्ममाचरेत् ॥७५॥ हि०

ज्ञानी जन अजर (अर्थात् पै वृद्धा होने वाला नहीं) धर (अर्थात् पै मरनेवाला नहीं) के समान विद्या संचय करने में तत्पर रहे सृष्ट्यु न कीशों को पकड़लिया है अर्थात् सृष्ट्यु सिर पर खड़ी है ऐसा समझ के धर्म करने में उद्यत होवे ।

यतते नैव कालेऽपि क्रियां कर्तुं चसालसः ।

नसिद्धिस्तस्य कुत्रापि स नश्यति च सान्वयः ॥७६॥ शु०

आलसी मनुष्य समय पर भी कार्य करने में उद्यत नहीं होता उसको कार्य में कभी सिद्धि नहीं होती और वह अपने वंश अहित नष्ट होजाता है ।

जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।

सहेतुस्सर्वविद्यानां धर्मस्त च धनस्यच ॥७७॥ चा०

एक २ बूंद करके क्रमशः जलसे घड़ा भर जाता है, यही क्रम सब प्रकार को विद्या, धर्म और धन के संचय करने का भी है ।

आकाशमुत्पततु गच्छतु वादिगन्त

मन्मोनिधि विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम् ।

जन्मान्तरार्जित शुभा शुभ ह्यन्नराणां

हायेव न त्यजति कस्मिंफलानुबन्धि ॥७८॥ शा०

आकाश की उड़जाय चाहे चारों दिशाओं में पूस आवे समुद्र में प्रविष्ट हो

जाय चाहे इच्छानुसार जहां चाहे रहे। भनुर्यां को जन्मान्तरों का शकटा किया हुआ शुभा शुभ कर्म का फल छाया के समान पोछा नहीं छोड़ता।

कूटन व्यवहारं तु वृत्तिलीपं नवाख्यचित् ।

न कुर्याच्चिन्तयेत् कच्च मनसाप्यहितं क्वचित् ॥७६॥ शु०

किसी के साथ कपट का व्यवहार न करे और न किसी के लीविका का नाश करे और कभी किसी का मन से भी अहित विचारना नहीं चाहे।

शुणौ रुत्तमं तां याति नैच्चैरासनसंस्थितः ।

प्रासाद् शिखरस्थोऽपि काकः किंगमहायते ॥७७॥ चा०

शुणों से मनुष्य अष्टता को पङ्क चत हैं उंचे आसन पर बैठने से नहीं क्या कीया कोठे के ऊपर भाग में बैठकर गरुड़ होजाता है।

परमेक्षा शुणो यस्तु निर्गुणोपि शुणीभवेत् ।

इन्द्रोपि लघुतांयाति स्वयंप्रख्यापि नैर्गुणैः ॥७८॥ चा०

जिसके शुणों को दूरसे लोग वन्दान करते हैं उस में कुछ भी गुण नहीं तीभी शुणवान कहाजाता है इन्द्र भी यदि अपने शुणों को आपही प्रशंसाकरे तो उससे हलकापन होजाता है।

समाने शोभते प्रीती राञ्छि सेवा च शोभते ।

वाणिज्यं व्यवहारेषु स्त्री दिव्या शोभते गृहे ॥७९॥ चा०

अपने बराबर जन के साथ प्रीति शोभायमान जाती है राजा की सेवा भी शोभती है व्यवहार में वनिसी की चाल और घरमें दिव्य स्त्री शोभती है।

मनसाचिन्तितं कार्यं वाचानैव प्रकाशयेत् ।

मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं कार्यं चापि नियोजयेत् ॥८०॥ चा०

मन से सोचिये काम को वचन से प्रकाश न करे कितु मन ही मन में उसकी रक्षा करे और गुप्तही उस कार्य को काम में भी लावे।

परोक्षे कार्यं हन्तारं प्रत्यक्षे प्रियं वादिनम् ।

वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयो मुखम् ॥८४॥ चा०

मुंह के सामने मोठोर बातें बनाकर कहनेवाला और पीछे पाँछे काम विगाड़ने वाला ऐसे मित्र को जो ऊपर से दूध से और भीतर विषसे भर घड़े के समान हो त्याग देना चाहिए ।

न भूषयत्यलङ्कारो न राज्ञ्यं न च पौरुषम् ।

न विद्या न धनं तादृग् यो दृक् सौजन्य भूषणम् ॥८५॥ शु०

जो भा भूषण मञ्जनता है वैसा गहना, राज्ञ्यं, पौरुषम्, विद्या और धन कोई भी नहीं है अर्थात् सौजन्य के बराबर यह सब कोई मनुष्य को भूषित नहीं करते ।

दशमोऽध्यायः

धर्मसोपान

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१॥ शौ०

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है और समस्त प्राणियों को मानो यन्त्रमें चढ़ायेके मायाके द्वारा घुमाताजाता है अर्थात् जैसे मढ़ारी कठपुतलियों को तारमें चढ़ाकर नचाते हैं, वैसेही, ईश्वर भी मायाके द्वारा समस्त प्राणियोंको नचाताजाता है ।

मन्यन्ते वै पाप कृता न कश्चित् पश्यतीति नः ।

तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्वै वा न्तर पूरुषः ॥२॥ म०

पाप करने वाले मनुष्य यह समझते हैं कि अधर्म करने में हम जो कोई नहीं देखता है परन्तु उनको देवता अर्थात् इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव और

अपने ही अन्तःकरण में वर्त्तमान, पुरुष सदा देखते रहते हैं ।

शुभाशुभफलं कर्म मना वाग्देह संभवम् ।

कर्मजागतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥३॥ म०

मन वाणी और देह से उत्पन्न हुए कर्मों का फल उनके अनुसार शुभ अथवा अशुभ होता है ऐसे ही इनकर्मों से जो गति उनके करने, हारों की होती है वह भी तीन प्रकार की है अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम ।

अधर्मं प्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।

धर्माथ प्रभवं चैव सुखसंयोगमजयम् ॥४॥ म०

अधर्म करने से मनुष्यों का उसका दुःख रूप फल प्राप्त होता है, अर्थात् जो सुख है वह केवल धर्म के करने से ही प्राप्त होता है ॥

एताष्टाऽस्य जीवस्य गतिस्त्रैव चित्ता ।

धर्मतोऽधर्मं तत्रैव धर्मो दद्यात्सदा मनः ॥५॥ म०

धर्म और अधर्म से उत्पन्न हुई जीव की गतियों की दिखकरा अर्थात् स्वर्ग और नर्क, भले और बुरे कर्मों ही से मिलते हैं यह बुद्धि से जानकर सदा धर्म ही में चित्त लगाना चाहिए ।

अज्ञानाद्यदिवाज्ञानां कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।

तस्माद्भिमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं नसमाचरेत् ॥६॥ म०

ज्ञान पूर्वक अथवा प्रमाद से जब कोई निन्दित कर्म होजाय और यदि करने हारा उस से छुटकारा चाहे तो दूसरो बार उस कर्म को कदापि न करे ।

कृत्वा पापं ही सं तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।

नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तुसः ॥७॥ म०

मनुष्य पाप को करके फिर उस पाप का सन्धा सन्ताप करे अर्थात् मने यह अनुचित कर्म किया और मैं फिर कभी ऐसा न करूंगा तो वह उस से छूट जाता है ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आसैव ह्यात्मनो बन्धु र्नात्मैव रिपुरात्मानः ॥८॥ गी०

अपने से अपना उद्धार करना चाहिए अपने को नीचे न गिराना चाहिए क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र है अर्थात् संसार समुद्र तरन का हेतु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अर्थात् संसार के दुःख में डुबाने का हेतु है ।

नामुत्र हि सहायार्थं पितामातश्च तिष्ठतः ।

न पुत्रदारा न ज्ञाति धर्मस्तष्ठति केवलम् ॥९॥ म०

परलोक में सहायता देने के लिये माता पिता पुत्र स्त्री वान्धव इनमें से कोई भी समर्थ नहीं है केवल धर्म ही अपने साथ जाता है और सहायता के लिये प्रस्तुत रहता है ।

सत्यं मेव जयते नानृतं सत्येन पन्था वितती देवयानः ।

येना क्रमन्त्यृषयो ह्याप्त कामा यत्र तत्सत्यस्य

परमं निधानम् ॥१०॥ सु०

सत्य ही को सदा जय होता है, मिथ्या की नहीं; सत्य से ही देवयान नामक मार्ग अर्थात् उत्तम लोकों का पहुँचाने वाला मार्ग चना हुआ है इस ही सत्य की सीढ़ी से मुनि लोग उस परमधाम को चढ़ गये हैं जहाँ सत्य का अन्तम विश्राम अर्थात् ठहरने का स्थान है ।

सत्यं वद धर्माच्चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम्

कुशलाङ्ग प्रमदितव्यम् ॥११॥ तै०

सचवाली, धर्म के आचरण करी, अच्छे शास्त्रों के पठने में प्रमाद मत करी, सत्यसे प्रमाद मत करी, धर्म से प्रमाद मत करी, शुभकर्मों से प्रमाद मत करी, ।

(५०)

मातृदेवीभव, पितृदेवीभव, आचार्य्यदेवीभव, ।
अतिथिदेवीभव, मान्यस्माकं सुचरितानि तानि
त्वयापा ह्यानि नो इतराणी ॥१२॥ तै०

माता को देवता की नाई मानो, पिता को देवता की नाई मानो, आचार्य्य को देवता की नाई मानो, अतिथि को देवता की नाई मन्कार करो, हमारे को अच्छे आचरण हैं उन्हीं का तुमभी अनुसरण करो, जो अच्छे आचरण नहीं है उनका अनुसरण मत करो ।

अहयादेयम् [अश्रद्धयाऽदेयम् ॥१३॥ तै०

अहासे दान करो, विना अहा दान मत करो ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यसित्धनम् ॥१४॥ ई०

जगत में जो कुछ यज्ञ सब है इश्वर के द्वारा आच्छादित है, (अथवा उस के मङ्गल भावों से व्याप्त है,) (कामना को) त्याग करके (अथवा उस का दिया हुआ भाग करो परन्तु स्वार्थ परतों को त्याग करके, किसी के धन को आकाङ्क्षा मत करो अर्थात् पराई वस्तु में शोभ मत करो ।

एष आदेशः एष उपदेशः ।

एषा वेदिपनिषत्, एतदनुशासनम् ॥१५॥ तै०

यही आदेश, और यही उपदेश है, - यही वेद का परम ज्ञान है, यही शास्त्र है, इसी प्रकार से (ब्रह्मकी) उपासना करनी चाहिये ।

समाप्त

| पत्र | श्लोका | अशुद्ध | शुद्ध |
|------|--------|---------------|---------------|
| १ | ४ | विद्वान् | विद्वान् |
| २ | ६ | ज्ञातिभिर्व | ज्ञातिभिर्व |
| २ | ८ | रूपमधिकं | रूपमधिकं |
| ३ | ८ | गुरुवा | गुरुवा |
| ५ | ६ | महारिषु | पहारिषु |
| ८ | १८ | वर्धयन्निह | वर्धयन्निह |
| ऐ० | २० | संमाद् | संमानाद् |
| ऐ० | १४ | यद्यत्पधोता | यद्यत्पधोता |
| १३ | २ | सिध्यति | सिध्यति |
| १५ | ८ | ऐ० | ऐ० |
| १६ | १ | स्त्वयोक्त्या | स्त्वयोक्त्या |
| १८ | १७ | यहपश्यति | यःपश्यति |
| १८ | १८ | संसारेः | संसारे |
| २० | २५ | मितश्चे | मितश्चे |
| २१ | २८ | शचौच | शचौच |
| २२ | २ | नर्हि | निर्हि |
| २२ | ५ | अस्मापियाति | अस्मापियाति |
| २७ | १३ | शुद्धाः | शुद्धा |
| २८ | २ | दुःखः | दुःख |
| २८ | २ | प्रत्यक्षः | प्रत्यक्ष |
| ३० | ३ | मश्नुने | मश्नुते |
| ३० | ६ | ही | हि |
| ३१ | ८ | सहिष्णुस्य | सहिष्णुस्य |
| ३१ | १२ | द्वयान्न | द्वयान्न |
| ३३ | १८ | स्वार्थे | स्वार्थे |
| ३७ | ४१ | ज्ञानिदेष | ज्ञानिर्देष |
| ३८ | ४६ | नोचै | नोचैः |
| ऐ० | ऐ० | विहिता | विहिता |
| ४० | ५१ | शत्रु | चादाने शत्रु |
| ऐ० | ५२ | मनुष्य | मण्यु |
| ऐ० | ऐ० | सर्व | सर्व |

| पत्र | शुलोक | अशुद्ध | शुद्ध |
|--------|-------|-----------|------------|
| ४१ | ५६ | इवपटपदाः | इवपटपटः |
| ४२ | ६३ | परीचन्ती | परोक्षन्ती |
| ४४ | ७१ | नापि | त्रापि |
| ४८ | ५ | एताद्वा | एतादृद्वा |
| ऐ० | ऐ० | गतिस्त्रे | गतीःस्त्रे |
| ऐ० | ७ | हो | हि |
| ५० | १२ | मा | या |
| भूमिका | | एवञ्च | प्रवृत्त |
| | | जय | जइ |

संकेत पत्र

| | | |
|-----|-------|-------------------|
| अ० | | अनुशासन पर्व |
| उ० | | उद्योग पर्व |
| ग० | | [अणेश्वरोदा |
| गी० | | गीता |
| चा० | | चाणक्यनीति |
| तै० | | तैत्तिरिथ उपनिषद् |
| नि० | | नीतिशतक |
| वि० | | विदुरनीति |
| भ० | | भट्टहरिशतक |
| म० | | मनुस्मृति |
| मु० | | मुण्डकउपनिषद् |
| शा० | | शान्तिपर्व |
| शु० | | शुक्लनीति |
| स० | | सभापर्व |
| हि० | | हितोपदेश |

